
इकाई 8 विधायिका

संरचना

- 8.1 प्रस्तावना
- 8.2 विधायिका
 - 8.2.1 संरचना
- 8.3 केन्द्रीय विधायिका/संसद
 - 8.3.1 राष्ट्रपति
 - 8.3.2 लोकसभा
 - 8.3.3 राज्यसभा
 - 8.3.4 समितियाँ
 - 8.3.5 विपक्ष
- 8.4 राज्य विधायिका
- 8.5 संसदीय प्रभुसत्ता
- 8.6 संसद की कार्यवाही : एक समीक्षा
- 8.7 सारांश
- 8.8 अभ्यास

8.1 प्रस्तावना

आधुनिक राष्ट्र राज्य शासन करने की ऐसी राजनैतिक शक्ति की अपेक्षा करता है जो उसे उसके नागरिकों द्वारा वैध प्रक्रिया द्वारा प्रदान की गई हो। लोकतंत्र में यह राजनैतिक शक्ति असैनिक समाज के बीच व्यवस्था बनाए रखने तथा संघर्ष आदि के समाधान के लिए राज्य के आवश्यक औजार के रूप में होती है। यह स्वमेव इस बात पर भी विचार करती है कि सभ्यता के छोटे स्तर से लेकर बड़े स्तर तक मानवता का निर्देशन किस प्रकार हो। राज्य समाज के राजनैतिक लक्ष्य का प्रतीक है और इसके प्रतिष्ठान सिद्धांतों और तकनीकों के उचित क्रम को अभिव्यक्त करते हैं जो उस सन्नहित लक्ष्य को स्थापित करने के लिये किए गए प्रयासों में प्रयुक्त होते हैं। विद्यमान लोक तंत्र को समझने के लिए राज्य द्वारा प्रभावित सम्पूर्ण परिसर, क्षेत्र, शैली, प्रयोजन और नियंत्रण के विश्लेषण की आवश्यकता है।

इसीलिए आधुनिक राज्यों में व्यापक पैमाने पर समाज के नियंत्रण और मार्गदर्शन के तरीके से विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के रूप में ढाँचागत फर्क आया है। इन तीन प्रतिष्ठानों में से विधायिका वह निकाय है जो जनता का दो विशिष्ट तरीकों से प्रतिनिधित्व करता है। पहला यह कि प्रतिनिधि अपने निर्वाचन क्षेत्रों की आशंकाओं और उपेक्षाओं को विधायिका के दूसरे सदस्यों तथा कार्यपालिका को संप्रेषित कर सकते हैं और दूसरा यह कि विधायिका राष्ट्र के दलित वर्ग और उनके 'विविध सांस्कृतिक' समाज का एक 'दर्पण की प्रतिमा' के रूप में प्रतिनिधित्व कर सकती है।

8.2 विधायिका

विधायिका को प्रायः शब्द 'संसद' के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। विधायिका लैटिन शब्द 'लेक्स' से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है विधि के द्वारा विधिक शासन तथा 'संसद' फ्रेंच शब्द 'बोलना' से उद्भूत है। विधायिकाएँ सरकार की उत्कृष्ट योजना में विधि निर्माण निकाय थीं। आज यह विविध कार्यों से जुड़ी हुई है और इसमें घटनात्मक ढांचागत परिवर्तन हुआ है। उदाहरण के तौर पर कार्यपालिका के ऊपर नियंत्रण रखने के लिए इसके महत्वपूर्ण कार्यों जिनका यह निष्पादन करती है, में से एक कार्य यह है कि हस्तक्षेप प्रक्रिया में विविध विधायी समितियाँ और नए-नए प्रतिष्ठान सामने आए हैं। अथवा, विधायिका वह स्थल है जहाँ सर्वाधिक राष्ट्रीय 'नेतृत्व' सहभागिता लोकतंत्र में प्रशिक्षित होता है। तथापि, प्रतियोगिताओं, विचार-विमर्शों और रचनात्मक नीतिगत कानून के स्वरूप वाला कथोपकथन वार्त्तालाप विधायिकाओं में अवस्थित राजनीतिक प्रक्रियाओं के मूल में बना रहता है।

उपनिवेशी काल के बाद की भारतीय विधायिका के लोकतांत्रिक और राजनीतिक विकास की यात्रा 1952 से आरंभ हुई परन्तु भारतीयों के लिए विधायिका की यह उत्तम संस्था अंग्रेजों की देन है। जिन प्रमुख साधनों के द्वारा ब्रिटिश संसद ने प्रजा के ऊपर राजा की शासन शक्ति को उखाड़ फेंका, वे एक 'उत्तरदायी सरकार' बने। उपनिवेशी सरकार के दौरान वर्ष 1833 से गवर्नर जनरल कौन्सिल के कार्यकारी और विधायी कार्यों के बीच एक धारणागत अन्तर रखा गया। इसके बाद, भारतीय परिषद् अधिनियम 1861 के लागू होने पर, विधायी परिषदों को सौंपे गए विधायी कार्यों का शनैः शनैः विस्तार हुआ तथा 'मूल निवासियों' को विधायी तंत्र में उत्तरोत्तर शामिल किया जाने लगा। मॉर्ले-मिण्टो सुधार 1909 के तहत निर्वाचित गैर-सरकारी सदस्यों को केन्द्रीय विधायी परिषद् और प्रान्तीय विधायी परिषद् में शामिल करके उनका विस्तार करने की माँग की गई। केन्द्रीय विधायी परिषद् के लिए निर्वाचन भी लागू किया गया। विधायी परिषद् के स्वैच्छिक कार्यों में भी वृद्धि हुई तथा पहली बार मुस्लिम समाज के लिए पथक मतदान का प्रावधान किया गया।

तथापि, यह विश्वास बना रहा कि संसदीय राजनीति भारतीय परिस्थितियों के लिए उपयुक्त नहीं थी। भारत के राज्य सचिव लॉर्ड मॉर्ले ने भारतीय परिषद् विधेयक पर 17 दिसम्बर 1908 को 'हाउस ऑफ लार्ड्स' में अपने प्रथम वाचन में कहा, "यदि यह विधेयक भारत में संसदीय प्रणाली स्थापित करने का प्रयास कर रहा है, सुधारों के इस अध्याय से भारत में संसदीय प्रणाली प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से लागू हो जाएगी, तब मैं इसके लिए कुछ नहीं कर पाऊँगा।"

तथापि, प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति तक प्रतिष्ठापित ब्रिटिश विचारधारा में परिवर्तन आना शुरू हो गया। 1919 के मोण्टेग-चेम्सफोर्ड सुधारों में विद्यमान प्रणाली में भारी परिवर्तन किए गए। इसमें हस्तान्तरण नियमों के माध्यम से प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार के आगे और सुधार हुए तथा भारतीय विधायिका प्रतिनिधिक और 'द्विसदस्यीय' बनाई गई तथा दोनों सदनों में निर्वाचित बहुमत लागू किया गया। शनैः शनैः स्वशासित प्रतिष्ठानों को विकसित करने जिससे भारत में उत्तरदायी सरकार का उत्तरोत्तर प्रभाव बढ़े, के उद्देश्य के बावजूद, राजनीतिक संरचना अभी भी एकाकी और केन्द्रित थी तथा परिषद् में पहले की तरह गवर्नर जनरल राज्य सचिव के माध्यम से ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी बना रहा।

भारत सरकार अधिनियम 1935 के लागू होने से एक अन्य प्रमुख सुधार हुआ। जिसमें, अन्य बातों के साथ-साथ, संघीय और प्रान्तीय स्वायत्तता, केन्द्र में द्वितंत्र, केन्द्र और प्रान्तों के बीच विधायी शक्तियों के बँटवारे का प्रावधान था तथा छह प्रान्तीय विधायिकाएँ द्विसदनीय बनाई गईं। तथापि, केन्द्रीय परिषद् ने प्रान्तों के ऊपर नियंत्रण बनाए रखा तथा पूर्ववत् गवर्नर जनरल की सलाहकार थी और इसे विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं बनाया गया। ब्रिटिश राजसिंहासन और गवर्नर जनरल ने केन्द्रीय विधायिका द्वारा पारित विधेयकों को नामंजूर करने की शक्ति अपने पास रखी। गवर्नर जनरल के पास अध्यादेश बनाने की शक्ति, कानून अथवा स्थायी अधिनियम बनाने की स्वतंत्र शक्ति थी। प्रान्तीय विधायिका भी इस प्रकार के प्रतिबन्धों से त्रस्त थी।

दिसम्बर 1946 में, जब के.सी. हैअरे के अनुसार, “संवैधानिक स्वस्थानिकता” के सिद्धान्त पर कार्य करने और राज्य सत्ता के ढाँचागत प्रबन्धन का प्रावधान करने के लिए निर्वाचन सभा बुलाई गई थी तब यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया था कि भारत की अपनी विधायिका होगी। भारत सरकार अधिनियम 1947 द्वारा इसे ब्रिटिश संसद की संप्रभुता और उत्तरदायित्व का उन्मूलन करके आगे और स्पष्ट कर दिया गया कि ब्रिटिश सिंहासन आगे प्राधिकार का स्रोत नहीं रहेगा और निर्वाचन सभा नए संविधान के निर्माण तथा नई विधायिकाओं के गठन होने तक, निर्वाचन एवं विधायी, द्वैत कार्य करेगी जैसा कि भारत ने अपने राजनीतिक व्यवस्था के अनुकूल संसदीय सरकार वाले लोकतंत्र एवं विकास की प्रक्रिया का उपक्रम किया था। अतः निर्वाचन सभा ने संविधान के विधायी उपबन्ध बनाए जिससे देश की सामाजिक और राजनीतिक एकता के लिए आधार तैयार हो सके। विभाजन ने इस कार्य को मुश्किल कर दिया।

8.2.1 संरचना

लोकतंत्रीय प्रणाली के तहत क्रियाशील, भारत में विधायिका केन्द्रीय, राज्य और स्थानीय विधायिकाओं, उनके औपचारिक एवं अनौपचारिक प्रबन्धनों का कुल जोड़ है जो अन्य राज्य निकायों और परिवेश के साथ अन्तर्गठबन्धन और अन्तर्क्रियाएँ करती रहती हैं। केन्द्रीय विधायिका जिसे संसद के रूप में जाना जाता है, राष्ट्रपति और दो सदनों – लोकसभा (जनता का सदन एवं अवर सदन) और राज्य सभा (राज्य परिषद् एवं उच्च सदन) से मिलकर बनती है। राज्य विधायिका में कुछ राज्यों में राज्यपाल और दो सदन (विधानसभा और विधान परिषद्) शामिल होने तथा शेष राज्यों में (अनुच्छेद 168) एक सदन (विधानसभा) होगा। स्थानीय विधायिका-ग्रामसभा और नगरपालिका संविधान द्वारा गठित एक स्वशासन का प्रतिष्ठान है। सम्बद्ध राज्य द्वारा अंतरित की जाने वाली पर्याप्त विधायी शक्तियाँ प्राप्त करने के लिए 73वें और 74वें संशोधन पर अभी कार्यवाही जारी है।

कानून के प्रयोजनार्थ, संविधान ने सरकार की मूलभूत संरचना के तौर पर संघीय प्रणाली लागू की है जिसमें विभिन्न विषयों का केन्द्र और राज्य सरकार के बीच सातवीं अनुसूची में यथाचर्चित तीन स्तरों पर नामतः संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची में आबंटन किया गया है। 73वें और 74वें संशोधनों के द्वारा राज्य और स्थानीय निकायों के बीच भी संविधान में ग्यारहवीं अनुसूची समाविष्ट करके विषयों के बँटवारे का प्रयास भी किया गया है। विषयों का यह बँटवारा आवश्यक है जिससे सभी उत्तरदायी और जवाबदेह स्तरों पर सूची में दिए गए मुद्दों के दायरे में कानून बनाया जा सके। तथापि, संघर्ष की स्थिति में, दायरे को समय-समय पर परिभाषित किया जाता है।

8.3 केन्द्रीय विधायिका/संसद

8.3.1 राष्ट्रपति

भारत का राष्ट्रपति इंग्लैण्ड के राज्य सिंहासन की तरह तथा अमेरिका के राष्ट्रपति से भिन्न भारतीय संसद का एक अभिन्न अंग है, तथापि, भारत का राष्ट्रपति अपनी शक्ति और प्रास्थिति के संदर्भ में इंग्लैण्ड के राज्य-सिंहासन से मेल नहीं खाता जैसे : कतिपय विवेकाधीन शक्तियाँ बनाम कानून और शपथ ग्रहण।

संविधान राष्ट्रपति को शासन करने की शक्ति प्रदान करता है परन्तु राष्ट्रपति अपनी शक्तियाँ सांविधिक सीमाओं के अंतर्गत प्रयोग करता है, उदाहरणार्थ अनुच्छेद 74(1) “भारत के राष्ट्रपति द्वारा कार्यकारी शक्तियाँ मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार प्रयोग की जाएगी अथवा अनुच्छेद 53(1) में अपेक्षित है कि राष्ट्रपति को अपनी शक्तियाँ संविधान के अनुसार प्रयोग करनी चाहिए।” राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है और एकता का प्रतीक है तथा दूसरा भाव यह है कि वह “राज्य का प्रमुख” है। तथापि, राष्ट्रपति के पद से कुछ सवाल खड़े हुए हैं जैसे, वस्तुतः राष्ट्रपति से सही अर्थों में क्या किया जाना अपेक्षित है? संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों को वह औपचारिक अथवा अनौपचारिक रूप से किस प्रकार प्रयोग कर सकता है? क्या राष्ट्रपति “प्रथम नागरिक” से कुछ अधिक है अथवा “रबड़ की मुहर”? एस.एस. खेड़ा का कहना है कि निश्चित रूप से उसके पास “सभी राजनीतिक पाबन्दियों से स्वतंत्र उसका अपना दिमाग होता है जिसकी शासकीय निर्णय लेने में सक्रिय भाग लेने के लिए अथवा उसकी प्रतिष्ठा और शक्तियों से सम्बन्धित विद्यमान संविधान के प्रावधानों के बदलने के प्रति कोई इच्छा अथवा महत्त्वाकांक्षा नहीं होती।”

तथापि, राष्ट्रपति और विभिन्न विधायी प्रतिष्ठानों के बीच तालतेल से संसदीय लोकतंत्र की सफल क्रियाशीलता सामने आई है। उदाहरण के लिए दोनों के बीच कटु सम्बन्ध विधायी मुद्दों पर समस्या का सूचक है, जो एक लम्बी बहस के लिए विरोधी दल और नागरिक समाज का ध्यान आकर्षित करेगी। ऐसे रिश्ते में राजनीतिक किलेबंदी हो सकती है जो राष्ट्रपति के भाषण में संसद के अन्दर और संसद के बाहर प्रतिबाधित होगी।

8.3.2 लोकसभा

भारत में संसद द्विसदनीय है। अवर सदन लोकसभा अर्थात् जनता का सदन है। इसके सदस्य सार्वत्रिक प्रौढ़ मताधिकार के आधार पर चुने जाते हैं (अप्रवासी, पागल, अपराधी और गलत मतदान क्रियाकलापों के लिए अभियुक्त व्यक्तियों को छोड़कर प्रत्येक प्रौढ़ नागरिक (18 वर्ष और उससे ऊपर) मतदान का हकदार है। आरक्षित चुनाव क्षेत्र में केवल अनुसूचित जाति और जनजाति के सदस्य ही अपना कार्यालय खोल सकते हैं परन्तु उस चुनाव क्षेत्र में आने वाले सभी प्रौढ़ मतदान कर सकते हैं। दो नामित स्थान अंग्रेज-भारतीय सम्प्रदाय के प्रतिनिधित्वों में से राष्ट्रपति द्वारा भरे जाते हैं।

मतदान प्रणाली के अनुसार एक चुनाव क्षेत्र में एक सदस्य को चुनना होता है। इस व्यवस्था ने ऐसी सरकारों को बनाया है जिनका संसद में भारी बहुमत था परन्तु उन्हें मतदाताओं का बहुमत प्राप्त नहीं

था। अंकगणितीय तौर पर परिभाषित स्वैच्छिक लोकतंत्र में समानुपातिक आधार पर आरक्षण व्यवस्था विरोधी दलों के लिए अधिक स्वच्छ और अधिक प्रभाव होगी। कुल मिलाकर संसद संवैधानिक निकाय जिसे चुनाव आयोग कहते हैं, की सहायता से निष्पक्ष तौर पर चुनी जाती है। यद्यपि व्यष्टिगत सीटें ताकतवर अथवा घूसखोरों द्वारा निर्धारित की जाती हैं तदपि भारत में कोई भी आम चुनाव का समग्र परिणाम ऐसा नहीं हुआ जो मतदाताओं की प्राथमिकताओं का उचित प्रतीक न हो।

लोकसभा की अधिकतम अवधि पाँच वर्ष होती है यद्यपि आपात्काल में उसे एक बार में एक साल तक अनिश्चित रूप से बढ़ाया जा सकता है। संसद की कोई न्यूनतम अवधि नहीं है। जब संसद भंग हो जाती है और सिरे से चुनाव कराए जाते हैं क्योंकि सरकार सदन में अपना विश्वास खो चुकी होती है तब प्रधानमंत्री भी निजी तथा राजनीतिक दल के अधिकतम लाभ के प्रयोजन से बेहतर आम राय प्राप्त करने के लिए नए सिरे से चुनावों की माँग कर सकता है।

संविधान के तहत लोकसभा को एक साल में दो बार बुलाया जाना अपेक्षित है तथा दो सत्रों के बीच अधिकतम अनुमेय अवधि छह महीने से अधिक नहीं हो सकती। विद्यमान प्रथा के अनुसार लोकसभा के प्रायः एक साल में तीन सत्र होते हैं। संसदीय कार्यवाही की भाषा अधिकतर हिन्दी अथवा अंग्रेजी होती है। यद्यपि सदस्य मान्यता प्राप्त भाषाओं में से किसी भी भाषा को प्रयोग में ला सकता है।

संसदीय प्रणाली में, कानून की प्रक्रिया तीन चरणों में पूरी होती है जो विधेयकों के तीन परिचित वाचनों के अनुरूप होते हैं : विधेयक को पेश करना, इस पर विचार करना तथा उसका अधिनियम करना। प्रथम वाचन में विधेयक पेश किया जाता है तथा उसके लक्ष्य और प्रयाजनों को स्पष्ट किया जाता है। द्वितीय वाचन के बाद विधेयक चयन समिति को भेज दिया जाता है अथवा लोगों की प्रतिक्रिया जानने के लिए परिचालित किया जाता है अथवा उसपर तत्काल विचार किया जाता है। अन्तिम स्थिति न के बराबर होती है तथा उसे आवश्यक एवं अविवादित मदों के लिए आरक्षित रखा जाता है। द्वितीय स्थिति प्रायः अधिकांशतः होती है। चयन समिति उसे या तो एक मत से अथवा बहुमत की सिफारिश के साथ अथवा असहमति के संक्षिप्त टिप्पणी के साथ वापस भेज देती है। तत्पश्चात् विधेयक के प्रत्येक उपखंड पर एक-एक करके सदस्यों के साथ विचार-विमर्श होता है जिससे उसमें उपयुक्त संशोधन किया जा सके। एक बार जब सभी उपखंडों पर चर्चा हो जाती है, तब विधेयक प्रस्तुतीकरण के चरण को पार कर जाता है और तीसरे और अन्तिम वाचन के लिए सूचीबद्ध कर दिया जाता है जो वस्तुतः संशोधनों के लिए होता है तथा तत्पश्चात् विधेयक पर मतदान कराया जाता है। यदि अध्यक्ष उसका पारित होने की पुष्टि कर देता है तो विधेयक को दूसरे सदन में भेज दिया जाता है जहाँ सम्पूर्ण प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होती है। जब संसद के दोनों सदन विधेयक का समान स्वरूप पारित कर देते हैं तो यह राष्ट्रपति को उसके अनुमोदनार्थ भेजा जाता है और उसकी सहमति मिलने पर यह कानून बन जाता है।

सरकार की सत्रीय और दैनिक कार्यवाही मंत्रिपरिषद् और उसकी संसदीय कार्यो की समिति द्वारा उसके मुख्य सचेतक की अध्यक्षता में तय की जाती है। संसद का प्रत्येक सत्र राष्ट्रपति के अभिभाषण के साथ आरंभ होता है। लोकसभा की बैठक के लिए न्यूनतम सदस्यों की संख्या कुल सदस्यों का दसवाँ हिस्सा है। लोकसभा वस्तुतः संसदीय व्यवस्था में मौलिक रूप से अन्य विधान सभाओं की तरह होती है तथापि इसका संदर्भ बिल्कुल भिन्न हो सकता है जो अपने अपूर्व सामाजिक-राजनीतिक परिवेश को प्रतिबिम्बित

करेगा। सदन का संचालन अध्यक्ष के हाथों में होता है जो सदस्यों की पहचान करता है, व्यवस्था बनाए रखता है और वे प्रस्तुत मुद्दे पर मतदान नहीं करता है परन्तु किसी प्रस्ताव के अनिश्चित होने की स्थिति में वह अपना निर्णायक मत डाल सकता है। अध्यक्ष शासक दल द्वारा चुना जाता है तथा इसका औपचारिक चुनाव सदन द्वारा किया जाता है तथापि उससे अपेक्षा की जाती है कि वह संसदीय कार्यवाही को समुचित और निरपेक्ष रूप से आगे बढ़ाए।

संसद अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान का संशोधन करने के लिए केन्द्रीय फोरम है। क्रियावधिक शक्तियाँ वे हैं जिन्हें संसद अपनी कार्यवाही चलाने हेतु नियम बनाने के लिए अनुमत करती है। विधायी शक्तियाँ संसद का प्राधिकार होती है और देश का शासन चलाने के लिए कानूनों के अधिनियमन में उसकी भूमिका निभाती हैं। संसद तकनीकी रूप से वह विधायिका, संस्था है जो देश के कानून और जनता के प्राधिकार तथा राज्य के प्रमुख की सहमति का अधिनियम करती है। वास्तविकता यह है कि विधायी कार्यसूची सरकार द्वारा विनियंत्रित होती है तथा उसका कठोर दलीय अनुशासन की सहायता से राष्ट्रपति द्वारा पृष्ठांकन किया जाता है। संसद की वित्तीय शक्तियाँ इसे धन, जितना वह उचित समझे, का संग्रहण और खर्च करने की शक्ति प्रदान करती हैं जिसमें वार्षिक बजट पर चर्चा करना और उसका अनुमोदन शामिल है, कर लगाने तथा समेकित निधि से धन खर्च करने का प्राधिकार मात्र संसद को है।

औपचारिक रूप से सरकार की लगाम इस अर्थ में संसद के हाथों में होती है कि मंत्रिपरिषद् को लोकसभा का विश्वास प्राप्त करना आवश्यक है और वह सामूहिक रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी है। विधायी शक्तियों के तहत संसद अन्ततः भारतीय संघ में किसी राज्य को मिलाने अथवा नया राज्य बनाने, किसी संघ राज्य क्षेत्र के लिए उच्च न्यायालय बनाने और किसी उच्च न्यायालय का अधिकार क्षेत्र बढ़ाने अथवा उसे कम करने; राज्य सभा (अवर सदन) की सहमति से किसी राज्य के लिए विधायी परिषद् का स जन करने अथवा उसे समाप्त करने के लिए कानून बना सकती है।

8.3.3 राज्यसभा

राज्य सभा अथवा राज्य परिषद् भारत की द्विसदनीय संसद का उच्च सदन है। भारतीय संघ के लिए द्विसदनीय विधायिका तीन कारणों से विनिर्दिष्ट होती है।

प्रथम, राज्य सभा, जैसा कि उसके नाम से अभिप्रेत है, संघीय राज्यतंत्र में राज्य के अधिकारों का प्रतिनिधित्व करने और उनके संरक्षण के लिए एक प्रकोष्ठ था। अतः राष्ट्रपति के चुनाव के लिए मतदान व्यवस्था में राज्य सभा की भूमिका और प्रास्थिति वही होती है जो लोकसभा की। राज्य विधान सभाओं के सदस्य अपने राज्यों के लिए समानुपातिक प्रतिनिधिक व्यवस्था के तहत राज्य सभा के प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। राज्य सभा की सांविधिक स्थिति की अमेरिकी सीनेट की शक्ति, कार्यो और प्रतिष्ठा की विशेष रूप से उस स्थिति में तुलना नहीं की जा सकती जब मात्र राज्य के अधिकार सन्निहित हों। संसद के दोनों सदनों के बीच अवरोध की स्थिति में उदाहरण के लिए यदि विधेयक पर चर्चा वास्तविक संतोषजनक निर्णय पर पहुँचने में विफल हो जाए, तब राष्ट्रपति दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक बुला सकता है। इसके निर्णय केवल बहुमत के आधार पर होते हैं। चूँकि संयुक्त बैठक में लोकसभा के सदस्य उसे प्रतिद्वन्द्वी राज्य सभा के सदस्यों के मुकाबले 2:1 के अनुपात में होते हैं अतः आमतौर पर राज्य सभा को पराजित हुआ माना जाता है।

द्विसदनीय विधायिका स्थापित करने का दूसरा प्रयोजन, विधेयक को लोकसभा द्वारा पारित किए जाने के बाद उस पर द्वितीय मत तथा अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण सहमति के लिए संस्थागत अवसर मुहैया कराना था। यह व्यापक रूप से दोनों सदनों में दलीय स्थिति पर निर्भर करता है। कांग्रेस पार्टी के आधिपत्य की अवधि के दौरान समालोचक के रूप में राज्य सभा की भूमिका प्रमुखतः कपोल कल्पना प्रतीत हुई थी।

भारतीय शासन पद्धति में राज्य सभा का तीसरा कार्य उस परिस्थिति में विधेयक को संसद में प्रस्तुत करना है जब लोकसभा सत्र में न हो। विधेयक पर अधिकांश संसदीय बहस और कार्य लोकसभा को पुनः बुलाए जाने तक पूरे किए जा सकते हैं।

संविधान के कतिपय विशिष्ट संघीय स्वरूप के सम्बन्ध में, राज्य सभा को राज्याधिकारों के संरक्षण के रूप में संशोधित करने की प्रमुख भूमिका दी गई है। उदाहरण के लिए, स्वयं राज्य सभा की शक्तियाँ भी उच्च सदन के दो-तिहाई बहुमत की सहमति से बदली जा सकती हैं। सिद्धांततः, सदन में ऐसे घटक और निपुण कार्मिकों को शामिल करने के उपायों का प्रावधान है जो राजनीतिक चुनाव की अनिश्चित मुश्किलों का मुकाबला करने को तैयार नहीं है। उन्हें राज्य सभा के लिए नियुक्त किया जा सकता है और चुनावों की कोलाहल में फँसाने की बजाए सीधे मंत्रिमंडल में शामिल कर लिया जाता है।

8.3.4 समितियाँ

लोकसभा संसदीय समितियों की सहायता से कार्य करती है। समितियों का गठन सदन में सम्बद्ध दलीय स्थिति के मद्देनजर अध्यक्ष तथा प्रमुख सचेतक द्वारा अवधारित किया जाता है। अनुचित कार्यकारी प्रभाव को रोकने के लिए, ऐसे किसी मंत्री को उस समिति के विचार विमर्श में भाग देने की अनुमति नहीं दी जाती जिसके प्रभार में समिति के विचाराधीन विधेयक है।

संसदीय समितियाँ संसदीय कार्यवाही में तीव्रता लाने तथा सरकारी क्रियाकलापों की समीक्षा करने में सहायता करती हैं। उन्हें चार व्यापक समूहों में बाँटा जा सकता है : सदन के संगठन और शक्तियों से सम्बद्ध समूह जैसे नियम समिति, सदन की विधायी कार्यों में सहायता करने वाला समूह जैसे चयन समिति, सरकारी विभागों को अधिक जवाबदेह बनाने में, सदन की सहायता करने वाला समूह जैसे विभिन्न स्थायी समितियाँ और वित्तीय कार्यों में सदन की सहायता करने वाला समूह जैसे लोक लेखा समिति, प्राक्कलन समिति आदि।

संसदीय समितियाँ संसद में जवाबदेही संस्कृति और अच्छा शासन सुनिश्चित करने के लिए चौकीदार की तरह कार्य करती हैं। विशेषतया वित्तीय समितियाँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानी जाती हैं क्योंकि वे 'घोटालों' का पता लगाती हैं और अपेक्षा की जाती है कि सम्बद्ध मंत्री द्वारा उनकी सिफारिशों को लागू किया जाए तथा अनुवर्ती कार्रवाई से लोकसभा को अवगत कराया जाए।

8.3.5 विपक्ष

संसदीय लोकतंत्र में विपक्ष से एक वैकल्पिक सरकार की भूमिका अदा करने की अपेक्षा की जाती है। स्वतंत्र भारत के अधिकांश इतिहास में कांग्रेस पार्टी के पूर्णतः वर्चस्व के कारण ऐसा नहीं हो पाया है। भारत में अनेक राजनीतिक दल होने के कारण विपक्ष के नेता की प्रास्थिति केवल दल के उस नेता पर लागू होती है जिसकी लोकसभा में न्यूनतम पचास सीटें हों।

वैकल्पिक सरकार बनाने की क्षमता अथवा संख्या की ओर ध्यान दिए बिना विपक्षी दल भारत जैसे विशाल और विविधता वाले देश में मतों की विविधता अभिव्यक्ति करते हैं एवं लेखाबद्ध करते हैं। विपक्ष सरकार को उसके राजनीतिक अस्तित्व से अवगत कराता रहता है। जब किसी प्रस्ताव पर मतदान के मिलान का समय आता है तो विपक्ष घाटे में रहता है। परन्तु संसद में इसके अभिकथन देश में व्यापक पैमाने पर सुने जाते हैं और राजनीतिक दलों के प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा अक्सर इन पर ध्यान दिया जाता है। अतः प्रायः विपक्ष दल के भीतर एक संकल्प पारित करते हैं जो इस अप्रत्यक्ष रूप से होने वाली गर्मा-गर्म बहस शासक दल के भीतर आन्तरिक बहस में बदल जाती है। जवाहरलाल नेहरू स्वयं भी विपक्ष के विभिन्न स्तरों पर मतान्तर के प्रति काफी संवेदनशील थे। आज़ादी के बाद से यह भारतीय राजनीति का विशिष्ट लक्षण बन गया है।

8.4 राज्य विधायिका

राज्य विधायिकाएँ अधिकांश मामलों में भारत की संसद के समान हैं फिर भी उनमें कुछ महत्वपूर्ण अन्तर हैं। एक सदनीय अथवा द्विसदनीय व्यवस्था का चयन राज्यों पर छोड़ दिया गया था जो इस बात पर निर्भर था कि वे द्वितीय सदन के कार्यों को इस पर आने वाली लागत के मुकाबले कितना महत्व देते थे। कोई विधानसभा स्वयमेव एक विशेष बहुमत (कुल सदस्यता का बहुमत जो विद्यमान और मतदान कर रहे सदस्यों की संख्या के दो-तिहाई से कम न हो) से विधान परिषद् का सजन अथवा उन्मूलन कर सकती है। जिसके अनुसरण में संसद द्वारा अधिनियम बनाया जाता है (अनुच्छेद 169)। परिषद् का आकार 40 से कम तथा सभा की कुल सदस्यता के एक-तिहाई से अधिक नहीं होना चाहिए (अनुच्छेद 171)। राज्य सभा की तरह, राज्य परिषद् के एक-तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष बाद चुने जाते हैं। राज्य परिषद् का पाँच-छह भाग एक जटिल सूत्र के तहत अप्रत्यक्ष रूप से चुना जाता है जिनमें स्नातक, शिक्षक और विधान सभा के सदस्य शामिल होते हैं तथा एक छठवाँ भाग राज्यपाल द्वारा नामित किया जाता है। परन्तु राज्य परिषद् की भूमिका राज्य सभा के मुकाबले परिस्थितिजन्य होती है : यह मात्र एक सलाहकार बोर्ड है जो विधेयक के पारित होने में विलम्ब कर सकता है परन्तु उसमें संशोधन अथवा उसे छोड़े जाने के लिए मज़बूर नहीं कर सकता।

विधान सभाएँ अपने आकार में भी परिवर्तन करती हैं जो न्यूनतम 40 तथा अधिकतम 500 सदस्यों तक हो सकता है, इनके सदस्य प्रत्यक्ष चुनाव के माध्यम से सार्वत्रिक प्रौढ़ – के आधार पर पाँच वर्ष की अवधि के लिए चुने जाते हैं। विधान सभा भंग हो सकती है, विधान परिषद् भंग नहीं होती। संसदीय और विधान सभा चुनाव क्षेत्रों के आकार में भारी अंतर होने के कारण विधान सभा सदस्य सांसदों की तुलना में जनता के अधिक नजदीक होते हैं। तदनुसार विधान सभा सदस्य अधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्यकर्ता हैं।

8.5 संसदीय प्रभुसत्ता

राजनीतिक सिद्धांत के रूप में, संप्रभुता इस धारणा की प्रतीक है कि शासन की प्रत्येक व्यवस्था में अन्तिम निर्णय के लिए कुछ निरपेक्ष शक्ति होनी चाहिए। इस तरह का निर्णय करने वाला व्यक्ति अथवा निकाय विधिक तौर पर निर्णय लेने और उस निर्णय को व्यावहारिक तौर पर लागू करने के लिए सक्षम होना

चाहिए। इस धारणा में परिप्रेक्ष्यात्मक और विवरणात्मक घटक सन्निहित है। इस स्थिति जैसा इसे होना चाहिए, के प्रतिकूल वास्तविकता यह है कि बहुत से राज्यों में संप्रभुता की धारणा में अभिव्यक्त आदेश की एकता, स्पष्टता तथा प्रभावकारिता नहीं होती।

भारत में, सरकार और न्यायपालिका के बीच इस बात पर संघर्ष बना रहता है कि संसद किस सीमा तक संविधान में संशोधन कर सकती है। गोलखनाथ मामले में (1967) न्यायालय ने 6:5 के बहुमत से नियम बनाया कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन के लिए सक्षम नहीं है क्योंकि ये अधिकार – और – हैं यद्यपि संविधान संशोधन की शक्ति विधायी शक्ति है (अनुच्छेद 245), और इस प्रकार संविधान संशोधन अनुच्छेद 13(2) के दायरे में एक कानून बन जाता है। तथापि, 1971 में, 24वें संशोधन अधिनियम के द्वारा संसद ने संविधान संशोधन अधिनियम बनाकर इसकी संप्रभुता को बरकरार रखने की माँग की जिसे इस आधार पर न्यायिक समीक्षा से छूट प्राप्त होगी कि यह मौलिक अधिकारों को हटाती है अथवा उन्हें प्रभावित करती है। अनुच्छेद 368 के अनुसार पारित संविधान संशोधन अनुच्छेद 13 के संदर्भ में 'कानून' नहीं होगा। 25वें संविधान संशोधन अधिनियम ने संसद को उस स्थिति में मौलिक अधिकारों के उल्लंघन की शक्ति प्रदान की यदि यह उल्लंघन राज्य नीति के दिशा-निर्देश सिद्धांतों को लागू करने के लिए किया जाए।

1973 में, केशवानन्द भारती मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने व्यवस्था दी कि यद्यपि संसद संविधान द्वारा 'अभिनिश्चित' मौलिक अधिकारों में भी संशोधन कर सकती है परन्तु यह संविधान के 'मूलभूत स्वरूप' अथवा ढाँचा को बदलने के लिए सक्षम नहीं है। 42वें संशोधन अधिनियम (1976) में स्पष्ट तौर पर और उद्घोषणा की गई कि संसद संविधान के सभी उपबंधों का संशोधन करने के लिए सक्षम है और न्यायालय संसदीय अविनियमनों पर प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकते।

'कानून की उचित प्रक्रिया' और 'कानून द्वारा स्थापित क्रियाविधि' के बीच संघर्ष के दृष्टिगत संसदीय संप्रभुता के दावे का कारण इसे जनता की इच्छा के प्रतीक के रूप में मानना है क्योंकि यह प्रत्यक्षतः जनता द्वारा चुनी जाती है और जनता के प्रति जवाबदेह होती है। वास्तव में, सभी प्रौढ़ नागरिकों द्वारा चुनी गई संसद निर्वाचित सभा जो बहुत ही सीमित मतदान द्वारा चुनी जाती है, की तुलना में आमराय का अधिक प्रतिनिधित्व करती है। तथापि, न्यायालय वर्षों से विवादात्मक निर्णय देते आ रहे हैं तथा न्यायिक निर्णयों की असमानता से संवैधानिक भ्रम की स्थिति पैदा हुई। संविधान वह है जो उसके उपखंडों में कहा गया है न कि वह जो न्यायपालिका द्वारा स्पष्ट किया गया है, विशेषतः 'मूलभूत स्वरूप' की धारणा स्वयं संविधान में कहीं नहीं मिलती तथापि यह न्यायाधीशों का आविष्कार है। 1980 में, मिनर्वा मिल्स प्रकरण में, न्यायपालिका ने अनुच्छेद 368 के उपखंड (4) और (5) की वैधता को प्रतिकूल उद्घोषित करके सत्ता का संतुलन अपनी तरफ मोड़ लिया क्योंकि उनमें न्यायिक समीक्षा की व्यवस्था नहीं है जो संविधान का आधारभूत लक्षण है। तथापि, इस बात पर जोर देना कि संविधान को न्यायिकता के बिना संसद की इच्छा पर संशोधित किया जा सकता है, संविधान प्रधानमंत्री की निजी निधि बनकर रह जाएगा।

8.6 संसद की कार्यवाही : एक समीक्षा

स्वतंत्र भारत की संसद तकनीकी रूप से 26 जनवरी 1950 को आरंभ हुई परन्तु लोकतांत्रिक रूप से यह मात्र 1952 में जीवन्त हुई। उस समय लोकसभा अत्यधिक सुसज्जित थी, इसके अधिकांश सदस्य

शहरी तथा विधिक पष्ठभूमि वाले थे। कानून को सामाजिक आर्थिक अभियंत्रण के मुख्य उपस्कर के रूप में अपनाया गया था जिसने प्रथम लोकसभा की बैठकों के कुल समय का लगभग पचास प्रतिशत समय लिया। सदन संसदीय संस्थानों और क्रियाविधियों का एक मजबूत आधार बनाने के लिए स्वस्थ परम्पराओं को प्रतिष्ठित करते हुए अपने स जनात्मक दौर में था।

द्वितीय लोकसभा (1957-62) को भारतीय संसदीय लोकतंत्र के इतिहास में शायद स्वर्णिम अवधि के रूप में जाना जा सकता है। संसद ने बड़े पैमाने पर विधायी उपायों का अधिनियमन किया। पारित किए गए विधेयकों में से चार विधेयकों ने संविधान संशोधन किया (एक संशोधन में गोवा को भारतीय संघ में मिलना शामिल है), दो गैर-सरकारी सदस्यों के विधेयक भी संविधि पुस्तक में शामिल किए गए तथा दहेज निरोधक विधेयक पर अवरोध को दूर करने के लिए दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाई गई। मुन्धा काण्ड में प्रशासनिक जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए 'प्रश्नकाल' के महत्त्व का विशेष उल्लेख किया गया। नेहरू की टिप्पणी थी कि "प्रत्येक बात पर विचार करके हमने अपेक्षाकृत अच्छा किया है और आज विश्व स्थिति पर विचार करके जब हम हर दूसरे दिन विभिन्न देशों में बलात् सत्ता परिवर्तन के बारे में पढ़ते हैं तो यह आश्चर्यजनक लगता है कि हम अपने सामान्य तरीके से आगे बढ़ रहे हैं।"

तृतीय लोक सभा (1962-67) ने कृषि विशेषज्ञों को उन वकीलों का स्थान लेते हुए देखा जिन्होंने प्रथम और द्वितीय लोकसभा में विशालतम समूह का गठन किया था। सदन के गठन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आने से विपक्षी सदस्य सामान्यतः अधिक सक्रिय थे। कोषागार बेंचों ने निर्ममतापूर्वक आलोचना की, प्रामाणिक संदेहों को व्यक्त किया और कभी-कभी सरकारी प्रस्तावों का भी विरोध किया। महिला सदस्य भी प्रथम लोकसभा में 22 तथा द्वितीय लोकसभा में 27 से बढ़कर 34 हो गए। सबसे रोचक विकास यह था कि सदन का प्रमुख कार्य विधि निर्माण करना नहीं रहा।

चौथी लोकसभा (1967-70) के दौरान भारत में राजनीतिक और संसदीय पटल पर सबसे महत्त्वपूर्ण विकासों में दल-बदल और कांग्रेस पार्टी के दल विघटन की घटनाएँ थीं जिससे कांग्रेस पार्टी की अपनी अविवादित अभिमानी स्थिति समाप्त हो गई और गैर-कांग्रेसवाद विपक्षी दलों के एकजुट होने तथा तदनुसार उनके कार्यक्रम के रूप में प्रकट हुआ। इन्दिरा गाँधी और कांग्रेस सिंडीकेट के बीच संघर्ष, वी. वी. गिरि को इन्दिरा गाँधी का समर्थन और उसका राष्ट्रपति के रूप में चुनाव चेतना बनाम अनुशासन का विवाद गाँधी शताब्दी वर्ष (1969) में कांग्रेस का विभाजन, वित्त मंत्रालय से मोरारजी देसाई का निष्कासन तथा प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण – इन सब बातों का लोकसभा की कार्यप्रणाली पर प्रभाव पड़ा। दल-बदल की घटना इस अवधि के लक्षण थे।

पाँचवीं लोकसभा (1971-77) अनेक विधायी उपायों (482) और 19 संविधान संशोधन विधेयकों की साक्षी थी। पाकिस्तान के साथ शिमला समझौता, सिक्किम को भारतीय संघ में मिलाना, आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम को बनाए रखने का अधिनियम, आपात्काल की घोषणा और दूरगामी प्रभाव वाले 42वें संविधान संशोधन को अपनाना कुछ प्रमुख ज्वलन्त उदाहरण थे।

तथापि, छठवीं लोकसभा (1977-79) में जनता सरकार सत्ता में आई और उसने उन सभी को दंडित करने का कोशिश की जो निकट से इन्दिरा गाँधी से जुड़े थे और आपात्काल में नृशंसता और ज़्यादातियों के लिए उत्तरदायी थे। सरकार लगभग दो वर्ष और छह महीने तक सत्ता में रही।

सातवीं लोकसभा (1980-84) ने कांग्रेस(इ) नेता इन्दिरा गाँधी को पुनः वापस सत्ता में देखा। पंजाब की स्थिति लोकसभा कार्यवाहियों पर अभिभावी रही। मंडल आयोग की रिपोर्ट जिसमें पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण की सिफारिश की गई थी, पर सदन में मैराथन बहस हुई। 1984 में, इन्दिरा गाँधी की हत्या के बाद चुनाव में कांग्रेस की भारी जीत हुई तथा राजीव गाँधी किशोरतम प्रधान मंत्री बने। आठवीं लोकसभा (1988-89) के दौरान 13 संविधान संशोधन विधेयक पारित हुए जिनमें दो अत्यधिक महत्वपूर्ण थे, एक में सदस्यों की सदस्यता, दल-बदल के आधार पर, समाप्त करने का प्रावधान तथा दूसरे में मतदान की आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी गई थी। तथापि, भारतीय डाकघर (संशोधन) विधेयक, मुस्लिम महिला (तलाक होने पर अधिकारों का संरक्षण, बोफोर्स काण्ड, लोकसभा से विपक्षी सदस्यों का सामूहिक रूप से त्यागपत्र और आठवीं लोकसभा द्वारा अपनाई गई विभागीय स्थायी समितियों की व्यवस्था भारतीय संसदीय लोकतंत्र के विकास में एक ऐतिहासिक सदन था।

नौवीं लोकसभा में एक वी.पी. सिंह द्वारा जनता दल की अल्पसंख्यक सरकार बनाई गई। जम्मू और कश्मीर, पंजाब और असम की स्थिति लोकसभा कार्यवाहियों पर प्रमुखतः हावी रही। मंडल आयोग की रिपोर्ट सदन में और सदन के बाहर उच्च जातियों द्वारा भारी विरोध के बावजूद लागू कर दी गई। मंडल ने मंदिर मुद्दे को उछाला और लालकृष्ण आडवाणी ने अपने साथियों के साथ अयोध्या में राम मंदिर निर्माण के लिए रैली की। लालकृष्ण आडवाणी की गिरफ्तारी के विरोधस्वरूप भारतीय जनता पार्टी तथा उसके सहयोगी दलों द्वारा समर्थन वापस लेने के कारण सरकार ने बहुमत खो दिया और वस्तुतः अविश्वास प्रस्ताव को हार गई। नौवीं लोकसभा का कार्यकाल कम था।

दसवीं लोकसभा (1991-96) में, कांग्रेस(इ) सदन में सबसे बड़े दल के रूप में उभरी तथा स्थायी सरकार के गठन के लिए इसका अपना निरपेक्ष बहुमत था। मन्दिर मुद्दे के कारण बाबरी मस्जिद ढहा दी गई और देश विधायकों के लिए एक परीक्षण काल का साक्षी बना। इस अवधि के दौरान, दो बहुत महत्वपूर्ण निर्णय लिए गए। पहला, प्रत्येक सांसद को अपने चुनाव क्षेत्र में विकास कार्यों पर खर्च करने के लिए प्रति वर्ष एक करोड़ रुपये का आबंटन और दूसरा, सत्रह विभागीय स्थायी संसदीय समितियों द्वारा बजट प्रस्तावों और अन्य के साथ, अनुदान माँगों की गहन समीक्षा करने के कार्य की पूर्ण विकसित तंत्र की स्थापना।

ग्यारहवीं और बारहवीं लोकसभा ने गठबंधन सरकारों का प्राकट्य देखा जहाँ विधायकों की प्राथमिकता गठबंधन को बनाए रखना तथा उसे मजबूत करना थी। विविध रुचियों और उद्देश्यों को समायोजित किया गया; गठबंधन अथवा अन्यथा स्वरूप की 'बहुसंस्कृति वाली संसद' में विकास, आधुनिकीकरण और धर्मनिरपेक्षता के लक्ष्यों की तरफ रचनात्मक तौर पर आगे बढ़ने की क्षमता है। तथापि यह देखने की आवश्यकता है कि किस प्रकार से विधायी अनदेखी विकास का रुख मोड़ देती है और जनता की उभरती हुई उम्मीदों को पूरा करने के लिए यह रूप परिवर्तन करती है। शायद इसका उत्तर संविधान के आमुख में अन्तर्निहित उद्देश्यों की प्राप्ति में सफलता के लिए आशान्वित होने तथा विफलता के लिए आशंकित होने' के परिप्रेक्ष्य में छिपा हुआ है।

8.7 सारांश

लोकतंत्र में, राज्य व्यवस्था बनाए रखने और एक असैनिक समाज में संघर्षों का समाधान करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आधुनिक राज्य, तीन महत्वपूर्ण निकायों के विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के रूप में समाज के राजनीतिक उद्देश्यों को प्राप्त करने की कोशिश करता है और इस प्रकार लोकतंत्र में विश्वास की पुष्टि करता है। इस इकाई में, उपरोक्त संस्थाओं का ब्यौरेवार वर्णन किया गया है। विधायिका जनता का मात्र प्रतिनिधित्व ही नहीं करती अपितु कानून निर्माण करने वाले निकाय की भूमिका भी निभाती है। यह भागीदारी लोकतंत्र की प्रतीक है। राष्ट्रपति, लोकसभा, राज्यसभा, विभिन्न समितियाँ और विपक्ष विधायिका के अभिन्न अंग हैं। राज्य विधायिकाएँ राज्य स्तर पर महत्वपूर्ण होती हैं। संप्रभुता की धारणा जिसमें वितरणात्मक तथा परिप्रेक्ष्यात्मक दोनों प्रकार के घटक शामिल होते हैं, विधायिका के निर्णय लागू करने के लिए आवश्यक है। संस्थाओं और क्रियाविधियों को समझने के लिए संसद के कार्यों को क्रमवार समग्र विश्लेषण आवश्यक है। इस प्रकार, विधायिका संविधान के आमुख में अन्तर्निहित उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहयोग करती हैं।

8.8 अभ्यास

- 1) भारत में कार्यरत विधायिका के स्रोतों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें (1952 से पूर्व की अवधि)।
- 2) संसदीय कार्यों के संरक्षण के रूप में लोकसभा और राज्यसभा की भूमिका का विश्लेषण करें।
- 3) संसदीय संप्रभुता क्या है? क्या यह न्यायिक समीक्षा से छूट प्राप्त है?
- 4) (1) विधायी प्रक्रिया में राष्ट्रपति की भूमिका और (2) राज्य विधायिका पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।